

Dr. Sudhir Kumar Singh

Principal

Rohtas Mahila College

Sasaram

Sociology U. G. notes

B. A. (Hons.) Part 3

Paper 5th - samaajik vicharon ka itihaas

Topic- सामाजिक उद्विकास: परिभाषा, अवधारणा और विशेषतायें ।

सामाजिक उद्विकास! Read this article in Hindi to learn about:- 1. सामाजिक उद्विकास की परिभाषा (Definition of Social Evolution) 2. सामाजिक उद्विकास की अवधारणा (Concept of Social Evolution) 3. विशेषतायें (Features) and Other Details.

Contents:

सामाजिक उद्विकास की परिभाषा (Definition of Social Evolution)

सामाजिक उद्विकास की अवधारणा (Concept of Social Evolution)

सामाजिक उद्विकास की विशेषतायें (Features of Social Evolution)

सामाजिक उद्विकास की वास्तविकता (Reality of Social Evolution)

सामाजिक उद्विकास की अवस्थायें (Status of Social Evolution)

1. सामाजिक उद्विकास की परिभाषा (Definition of Social Evolution):

## ADVERTISEMENTS:

1. नोर्थ ने लिखा है कि- “जब किसी समय में होने वाले परिवर्तनों का कम न केवल परिवर्तन के बाद परिवर्तन की क्रिया की ओर संकेत करता है, बल्कि निरन्तर घटित होने वाली प्रक्रिया को बतलाता है जिसके द्वारा समदृश्यता का धागा स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होता है, तब परिवर्तनों के ऐसे क्रम को क्रमविकास कहा जाता है।”

2. आगवर्न तथा निमकॉफ के अनुसार- सामाजिक उद्विकास को एक ऐसे परिवर्तन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो एक विशेष दिशा में घटित होता है। सामाजिक उद्विकास सामान्य उद्विकास का ही एक पहलू है। यह जैविक उद्विकास के सिद्धान्त को सामाजिक प्रघटना में लागू करता है। यह स्वतः ही घटित होता है। यह व्यक्तियों के द्वारा अपनी परिस्थितियों से निरन्तर समायोजन के कारण उत्पन्न होता है। यह एक प्राकृतिक प्रक्रिया है। इसको नियंत्रित नहीं किया जा सकता।

3. हरबर्ट स्पेन्सर- “उद्विकास पदार्थ तथा सहकारी गति के निप्रथन का एक संकलन है जिसमें पदार्थ एक आपेक्षिक, अनिश्चित और बेमेल सजातीय से एक आपेक्षिक रूप से निश्चित तथा समन्वित विजातीय में बदल जाता है जिसमें कि स्थापित गति में भी समानान्तर रूपान्तरण हो जाता है।”

हरबर्ट स्पेन्सर की उद्विकास की इस व्याख्या के अनुसार सामाजिक उद्विकास का अर्थ होगा अनिश्चित तथा बेमेल सजातीय से निश्चित और समन्वित विजातीयता की

ओर प्रगति । इस प्रगति में तीन बातें स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं । सामाजिक उद्विकास में अनिश्चित समिति, संस्थायें आदि निश्चित रूप ग्रहण कर लेती हैं ।

सामाजिक उद्विकास में समन्वय की प्रक्रिया शामिल है अर्थात् समाज के विभिन्न अंगों में समन्वय होता चलता है । अतः सामाजिक उद्विकास कोरा परिवर्तन मात्र नहीं है । तीसरे, सामाजिक उद्विकास के साथ-साथ समाज में विजातीयता बढ़ती है अर्थात् नई-नई समितियाँ, समुदाय और संस्थायें बढ़ती जाती हैं ।

## 2. सामाजिक उद्विकास की अवधारणा (Concept of Social Evolution):

### ADVERTISEMENTS:

सामाजिक परिवर्तन की सबसे प्राचीनतम अवधारणा सामाजिक उद्विकास प्रकार के परिवर्तन के रूप में विकसित हुई । डारविन के विचारों से प्रेरित होकर थॉमस हॉब्स, फरगूशन, स्पेन्सर, जॉन लॉक जैसे विद्वानों ने सामाजिक उद्विकास प्रकार के परिवर्तन की अवधारणा व्यक्त की ।

इनका कहना था कि विभिन्न समाजों की संरचनाओं में, अर्थव्यवस्थाओं में तथा तकनीकी में काफी अन्तर देखने को मिलते हैं जिनको एक क्रमव्यवस्था में सजाया जा सकता है । किसी भी सामाजिक व्यवस्था में प्रारम्भ में एकीकरण तथा विषमता को

अस्पष्ट रूप में ही देखा जा सकता है ।

धीरे-धीरे एकीकरण तथा विषमता बढ़ती है । इसके साथ-साथ समूहों में सामंजस्य भी बढ़ता है । प्रथायें कानून का रूप ले लेती हैं, जो विभिन्न क्रियाओं के लिए विशेष स्वरूप में ढल जाता है । प्रारम्भ में जो प्रथायें अस्पष्ट सी दीख पड़ती हैं वह धीरे-धीरे एक दूसरे से अलग होकर स्पष्ट दिखने लगती हैं ।

### 3. सामाजिक उद्विकास की विशेषतायें (Features of Social Evolution):

हरबर्ट स्पेन्सर ने सामाजिक उद्विकास के सम्बन्ध में चार महत्वपूर्ण सिद्धांत उपस्थित किये ।

वे सिद्धान्त निम्नलिखित हैं:

(1) सामाजिक उद्विकास सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के उद्विकास के परिवर्तन के नियम का एक सांस्कृतिक या मानवीय पहलू है ।

(2) अतः सामाजिक उद्विकास सब स्थानों पर समान प्रकार से होता है और कुछ निश्चित तथा अनिवार्य स्तरों से गुजरता है ।

(3) सामाजिक उद्विकास क्रमिक है ।

(4) सामाजिक उद्विकास प्रगतिशील है ।

सामाजिक उद्विकास की इन चार महत्वपूर्ण विशेषताओं के अलावा उसकी उपरोक्त परिभाषा से उसकी निम्नलिखित तीन विशेषतायें भी स्पष्ट होती हैं:

(a) सामाजिक उद्विकास भिन्नता की प्रक्रिया से होता है । इसको समझने के लिए किसी भी समाज के लम्बे इतिहास पर नजर डालिये तो आपको उसमें समितियाँ, संस्थायें आदि बराबर विकसित होती मिलेंगी । सामाजिक उद्विकास में नई-नई समस्यायें नई-नई परिस्थितियाँ बराबर आती रहती हैं, जिनके कारण नई-नई समितियाँ और संस्थायें विकसित होती रहती हैं ।

किसी एक नगर के समाज को लीजिये । पहले जब वह नगर एक छोटा सा गाँव या कस्बा होगा तो उसका प्रबन्ध एक पंचायत या टाउन एरिया कमेटी करती होगी । अब वह शहर एक बड़ा व्यापारिक केन्द्र बन गया है अतः उसके प्रबन्ध के लिए बीसों अलग-अलग कमेटियाँ हैं । कोई शिक्षा का प्रबन्ध करती है, कोई सफाई का कोई चुंगी का प्रबन्ध करती है, तो कोई बाजारों की देखरेख करती है । इस प्रकार शहर के उद्विकास के साथ-साथ यह भिन्नता भी बढ़ती जाती है ।

(b) परन्तु समन्वय के बिना यह भिन्नता किसी भी ओर नहीं ले जा सकती । अतः भिन्नता के साथ-साथ समन्वय भी आवश्यक है । शहरों में जहाँ आपको कायस्थ समाज महाराष्ट्रीय समिति आदि मिल जायेंगी वहाँ ऐसी संस्थायें भी मिलेंगी जो विभिन्न जातिगत और वर्गगत भेदों पर आधारित इन समितियों का समन्वय करती हों । आज

मानव समाज में जहाँ नये-नये राष्ट्र उत्पन्न होते जा रहे हैं वहाँ इन राष्ट्रों का समन्वय करके एक विश्व राज्य की स्थापना के प्रयत्न भी कम जोर-शोर से नहीं किये जा रहे हैं ।

(c) भिन्नता तथा समन्वय की इस दोहरी प्रक्रिया से समाज की कुशलता बराबर बढ़ती जाती है श्रम-विभाजन आधुनिक आर्थिक उद्विकास का मूलमंत्र है । समाज में भी भिन्न-भिन्न संस्थाओं और समितियों के बढ़ते जाने से विभिन्न क्षेत्रों में काम अधिक सफलता से होता है और समन्वय की प्रक्रिया के कारण विभिन्न क्षेत्र एक दूसरे की कुशलता से लाभ भी उठाते है ।

सामाजिक उद्विकास के सम्बन्ध में हरबर्ट स्पेन्सर ने डार्विन के योग्यतम की विजय और अस्तित्व के लिए संघर्ष के जैवकीय सिद्धान्तों को समाज पर लागू किया है सामाजिक उद्विकास के इस सिद्धान्त को बहुत से विद्वानों ने स्वीकार किया है और उसकी अपनी- अपनी परिभाषायें प्रस्तुत की हैं ।

हाबहाउस ने लिखा है- "मैं उद्विकास किसी भी प्रकार की वृद्धि समझता हूँ । सामाजिक प्रगति से सामाजिक जीवन के उन गुणों की वृद्धि समझता हूँ, जिनसे मानव प्राणी बुद्धिपूर्वक कुछ मूल्य जोड़ सकें ।"

सामाजिक उद्विकास का सिद्धान्त समाज में क्रमिक प्रगति मानता है । परन्तु सभी विद्वान सामाजिक उद्विकास को क्रमिक नहीं मानते । कुछ विद्वान उसे समरैखिक और कुछ अन्य विद्वान् चक्रिय मानते हैं ।

मॉर्गन वैखोफन, हैडन और इंगेल्स के अनुसार प्रत्येक समाज का उद्विकास इन तीन अवस्थाओं से होकर होता है:

(1) वन्यावस्था

(2) बरबर्ता और

(3) सभ्यता ।

इसी प्रकार इन विद्वानों ने प्रत्येक समाज के आर्थिक विकास की चार अवस्थायें मानी हैं:

(A) आखेट,

(B) पशुपालन,

(C) कृषि अवस्था तथा

(D) औद्योगिक अवस्था ।

विकासवादी सिद्धांत के अनुसार प्रौद्योगिकी के विकास में निम्नलिखित तीन स्तर माने गये हैं- प्रस्तर युग, कांसा युग, तथा लौह युग । इसी प्रकार विवाह, परिवार, धर्म, संपत्ति, कानून, राज्य आदि मानव समाज के विभिन्न अंगों में भी विकासवादियों ने विकास की विभिन्न अवस्थायें दिखाने की कोशिश की ।

विकासवादी मत के विरुद्ध प्रतिक्रिया:

परन्तु कुछ विद्वानों ने इस मत की कटु आलोचना की। The History and Prospects of the Social Sciences में गोल्डनवाइजर ने इस मत का प्रबल समर्थन किया। इन विद्वानों के अनुसार सामाजिक क्षेत्र में उद्विकास की कल्पना भ्रामक है। समाज के विकास की अवस्थाओं का वर्णन कोरी कल्पना हैं। प्रौद्योगिकी, आर्थिक अथवा सांस्कृतिक विकास की इन अवस्थाओं का कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है।

सभी समाजों में एक ही प्रकार का क्रमिक विकास मानना तो एकदम गलत है। क्योंकि प्रत्येक समाज की अपनी-अपनी परिस्थिति होती है और उसमें उसी के अनुसार परिवर्तन होता है। ये परिस्थितियाँ सदैव बदलती रहती हैं, इसलिये यह परिवर्तन भी क्रमबद्ध नहीं रहता।

मैकाइवर का मत:

मैकाइवर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Society में सामाजिक उद्विकास के सिद्धांत का समर्थन किया है। मैकाइवर के अनुसार "सामाजिक उद्विकास वह क्रिया है जिससे वस्तु में प्रच्छन्न सभी भावनायें क्रमशः अथवा धीरे-धीरे प्रकट हो जाती हैं उद्विकास सीधी वृद्धि को नहीं कहते हैं। उद्विकास से वस्तु के आधार में वृद्धि होने के अलावा उसकी रचना में भी परिवर्तन होता है। यह संख्यात्मक और गुणात्मक परिवर्तन यह निरन्तर और एक दिशा में ले जाने वाली प्रक्रिया है जिससे वस्तु (या समाज) की

आन्तरिक विशेषतायें प्रकट होकर भिन्न और स्पष्ट हो जाती हैं। अतः उद्विकास की मौलिक विशेषता विभेदीकरण है (जिसमें एकीकरण का अर्थ भी शामिल है) समाज में विभेदीकरण अधिकतर श्रम विभाजन, कार्यात्मक समितियों की संख्या और विविधता में वृद्धि तथा समाजिक संचार के साधनों (विशेषकर भाषा) में अधिकतर विभिन्नता और उत्कृष्टता में जाहिर होता है।" मैकाइवर ने सामाजिक उद्विकास को काल्पनिक मानने के सिद्धान्त की जबर्दस्त आलोचना की है।

#### 4. सामाजिक उद्विकास की वास्तविकता (Reality of Social Evolution):

सामाजिक उद्विकाम की वास्तविकता क्या है ? इस विषय में कुछ निश्चिय करने के लिये सामाजिक उद्विकास की वास्तविकता के पक्ष में मैकाइवर और पेज के तर्कों को जान लेना लाभदायक होगा।

मोटे तौर से ये तर्क निम्नलिखित हैं:

(1) आदिम तथा सभ्य समाजों में जो विविधता और भेद दिखलाई पडता है वैसी ही विविधता और भेद पशु समाज में भिन्न-भिन्न प्रकार के पशुओं में देखा जा सकता है। अतः जब पशुओं में उद्विकास का सिद्धान्त लागू हो सकता है तो फिर मानव समाज के क्षेत्र में वह क्यों नहीं लागू किया जा सकता है। इस प्रकार मानव समाज की विविधता से यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि उद्विकास के सिद्धान्त में वास्तविकता नहीं है।

(2) सामाजिक जीवन में विभेदीकरण की क्रिया के अस्तित्व से ही समाज में उद्विकास का होना सिद्ध होता है। वास्तव में जैसा कि पीछे बतलाया जा चुका है,

मैकाइवर के अनुसार यह विभेदीकरण की क्रिया ही सामाजिक उद्विकास की मौलिक विशेषता है । अतः मैकाइवर समरैखिक उद्विकास के रूप में उद्विकास के सिद्धान्त को नहीं मानता ।

उसने स्पष्ट कह दिया है कि यदि उद्विकास का मतलब यह लगाया जाए कि समाज की कुछ विशेष संस्थायें एक निश्चित क्रम के अनुसार अनेक दशाओं से गुजर कर उन्नत समाजों की विशेष अवस्थायें बन जाती हैं तो इस रूप में उद्विकास की वास्तविकता को स्वीकार नहीं किया जा सकता । सामाजिक उद्विकास की वास्तविकता विभेदीकरण की प्रक्रिया में है ।

इसी क्रिया के कारण प्रत्येक समाज में कालान्तर में भिन्न-भिन्न काम करने के लिए नई-नई समितियां, व्यवस्था, संघ और संस्थायें विकसित होती रहती है । इस प्रकार समाज के राजनैतिक, आर्थिक धार्मिक, संस्कृतिक सभी दलों का विकास होता चलता है ।

इतिहास यह बतलाता है कि प्रारम्भ में मानव समाज में विभिन्न कार्यों के लिए यह विभेदीकरण नहीं था । सभ्यता और सांस्कृति की प्रगति के साथ-साथ यह विभेदीकरण हुआ और यह अब भी बराबर बढ़ता जा रहा है । यह ऐतिहासिक तथ्य ही इस बात का साक्षी है कि सामाजिक उद्विकास के सिद्धान्त में कितनी वास्तविकता है ?

(3) सामाजिक उद्विकास की यह वास्तविकता आदिम समाजों की आधुनिक समाजों में तुलना करने पर और भी स्पष्ट होती है । आदिम समाजों में हर एक परिवार या अधिक से अधिक हर एक बंधुवर्ग सामूहिक रूप में मिल कर खेती शिकार युद्ध आदि

सभी काम करते हैं ।

न उनमें आधुनिक समाज जैसे वर्ग पाये जाते हैं और न विशेष कामों को करने के लिए विशेष समितियां । धार्मिक सांस्कृतिक तथा शैक्षिक संस्थायें तक अलग-अलग नहीं होतीं । इसके विपरीत आधुनिक समाज में धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में विभेदीकरण दिखाई पड़ता है । जाहिर है कि आदिम और आधुनिक समाजों का यह अन्तर सामाजिक उद्विकास की वास्तविकता के कारण है ।

सामाजिक उद्विकास का एक उदाहरण:

सामाजिक उद्विकास की वास्तविकता का समर्थन करने के लिये केवल एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा । मैकाइवर ने इस विषय में सामाजिक उद्विकास की वास्तविकता को धर्म के उद्विकास का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है ।

उसके अनुसार धर्म का उद्विकास निम्नलिखित अवस्थाओं से होकर हुआ:

(i) धार्मिक तत्व का अन्य सांस्कृतिक तत्वों के साथ मिश्रण होना:

लूसियन लेवी ब्रहल ने लिखा है- "विभिन्न वस्तुयें तथा प्राणी जिन रहस्यमय गुणों से युक्त होते हैं वे आदिम व्यक्ति के विचार का एक अविभाज्य अंग होते हैं जो कि उसकी एक समन्वित पूर्ण सभ्यता है ।"

इस प्रकार आदिम व्यक्ति में धार्मिक तत्व अन्य सांस्कृतिक तत्वों से मिला होता है । वास्तव में इस समय धर्म सभी महत्वपूर्ण मामलों में आदिम व्यक्ति के चिन्तन की पद्धति थी । यह एक प्रकार का मानसिक वातावरण था जो जीवन की सभी प्रधान घटनाओं में काम करता था ।

इस प्रकार जन्म, मृत्यु, महामारी, प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के आकस्मिक प्रगतिकरण सामाजिक रीति-रिवाजों, फसलों, ऋतुओं, मुखिया की संस्था सभी को धर्म के आधार पर समझा जाता था ।

आदिम मानव ने प्राकृतिक और आध्यात्मिक शक्तियों में भेद करना नहीं सीखा था । पोलीनीशिया के माना की तरह उस समय के विचार में अच्छी और बुरी शक्तियां मनुष्य तथा उसके नाम आदि में कोई भेद नहीं था ।

(ii) सम्प्रदाय और जादू:

इस खिचड़ी अवस्था से धर्म सम्प्रदाय और जादू की अवस्था में आया । इस अवस्था में अज्ञात शक्तियों को निश्चित रूप दिया जाने लगा था तथा अस्पष्ट रहस्यवादी भावना विशेष चीजों के साथ बंध कर स्पष्ट होने लगी थी । अब इन निश्चित रूप वाली शक्तियों को समाज स्वीकार करने लगा था और उनके साथ विशेष कर्मकाण्ड दन्तकथामें तथा विश्वास जुड़ने लगे थे ।

इस प्रकार सम्प्रदाय उत्पन्न हुए । पृथ्वी आकाश आधी तूफान और प्रकृति की जड़ चेतन वस्तुओं से सम्बन्धित रूढ़ शक्तियाँ पृथक् और विशिष्ट सत्तार्ये बन गईं । उनके पास पहुँचने की विशेष विधियां बनी । इन विधियों को जानने वाले पुरोहितों का

आविर्भाव हुआ ।

इनके साथ-साथ समाज में जादू करने वाले ओझों का भी जन्म हुआ । इस प्रकार धर्म ने एक संस्था का रूप धारण कर लिया और जीवन के एक विशेष पहलू में ही सीमित हो गया इस अवस्था में अभी शरीर की आत्मा सामाजिक और आध्यात्मिक तत्व जादू टोना और धर्म में भेद नहीं किया गया था ।

(iii) विशिष्ट धार्मिक संस्थाओं का निर्माण:

तीसरी अवस्था विशिष्ट धार्मिक संस्थाओं के निर्माण की अवस्था थी इसमें मनुष्य ने संसार की अच्छाई और बुराई को देखकर उनके अलौकिक कारण देवताओं और राक्षसों की कल्पना की ।

इस अवस्था में निम्नलिखित दो घटनायें महत्वपूर्ण हैं:

(क) सामूहिक अथवा जातीय देवता:

धर्म के संस्थात्मक रूप धारण करने से उसको समूचे समाज या जाति की सम्पत्ति समझा जाने लगा । इससे जाति के पुराने काल्पनिक या वास्तविक पूर्वज और महापुरुष तथा कभी-कभी वर्तमान राजा भी देवता मान लिये गये । इस प्रकार बहुदेववाद का प्रचार हुआ और क्रमशः एकदेववाद की ओर प्रवृत्ति हुई ।

(ख) पवित्र और अपवित्र के विचार का आविर्भाव:

जातीय या सामूहिक देवताओं के साथ धर्म की एक पृथक संस्था बन गई और उसके साथ विशेष धार्मिक कर्मकाण्ड, धार्मिक विधियों धार्मिक पुरोहितों आदि का भी आविर्भाव हुआ। क्रमशः इन सबसे सम्बन्धित वस्तुयें पवित्र और इनसे विरुद्ध वस्तुयें अपवित्र समझी जाने लगीं।

(4) धार्मिक संस्थाओं से विशेष धार्मिक समितियां बनना:

धर्म की चौथी अवस्था में धार्मिक समितियों का उदय हुआ। समिति बनने से धर्म को मानना न मानना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर हो गया। यह धर्म की वर्तमान अवस्था है। परन्तु संस्थाओं से समितियों की अवस्था तक धर्म के विकास में लाख-करोड़ों मानवों को भारी संघर्ष करना पड़ा है।

मध्यकालीन यूरोप में सब जगह प्रजा को राजा का धर्म मानना पड़ता था। इस रिवाज को समाप्त करने के लिये सदियों तक घोर संघर्ष हुआ। अब अधिकांश सभ्य समाजों में राज्य और धर्म को अलग-अलग समितियां मान लिया गया है। धर्म की सदस्यता ऐच्छिक है अनिवार्य नहीं।

सामाजिक उद्विकास के सम्बन्ध में धर्म का उपरोक्त उदाहरण उद्विकास की एक मोटी रूपरेखा ही उपस्थित करता है जिसमें स्थान-स्थान पर विद्वानों में मतभेद होना स्वाभाविक ही है। परन्तु इस एक उदाहरण से इतना अवश्य स्पष्ट होता है कि सामाजिक उद्विकास का सिद्धान्त बालू की दीवार नहीं है। कम से कम इतना तो

बहुत से विरोधी मत रखने वाले भी मानते हैं कि इस दृष्टि से देखने से सामाजिक संस्थाओं और समितियों के अध्ययन पर एक नया प्रकाश पड़ता है ।

ऐसी स्थिति की कल्पना करना कठिन है जब सामाजिक उद्विकास की वास्तविकता में किसी को भी सन्देह नहीं होगा क्योंकि इस बात को समझना बहुत कुछ विशेष विद्वान् के अपने दृष्टिकोण पर आधारित है । परन्तु फिर भी इतना तो जाहिर ही है कि दृष्टिकोण के निकट भूतकाल में और वर्तमान समय में मानव समाज के विभिन्न अंगों संस्थाओं और समितियों के जो अध्ययन किये गए हैं वे केवल रूचिकर ही नहीं बल्कि प्रेरणा देने वाले भी हैं ।

## 5. सामाजिक उद्विकास की अवस्थायें (Status of Social Evolution):

मैकाइवर का वर्गीकरण:

प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैकाइवर के अनुसार यद्यपि सामाजिक उद्विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया का वर्णन नहीं किया जा सकता परन्तु उसकी एक मोटी रूप-रेखा अवश्य पेश की जा सकती है ।

मैकाइवर ने इस उद्विकास की अवस्थाओं का निम्नलिखित वर्गीकरण किया है:

(I) सामूहिक प्रथायें,

(II) विभेदीकृत सामूहिक संस्थायें,

### (III) विभेदीकृत समितियां ।

#### (I) सामूहिक प्रथायें:

आदिम समाजों में बहुत सी सामूहिक प्रथायें होती थी जिनको समाज के सभी व्यक्ति मानते थे । ये सामूहिक प्रथायें ही आदिम समाजों पर शासन करती थीं । ये ही आदिम मानव के सामाजिक जीवन का नियन्त्रण करती थीं । इस समय में सामाजिक जीवन के भिन्न-भिन्न अंगों की व्याख्या करने के लिये अलग-अलग प्रथायें नहीं थीं ।

इस प्रकार आर्थिक धार्मिक और राजनैतिक सभी कार्य सामूहिक रीति-रिवाजों से ही लिये जाते थे जैसे समाज में मुखिया की प्रथा होने पर मुखिया ही धार्मिक सामाजिक राजनैतिक सभी कामों में अध्यक्ष का काम करता था । वही समाज का राजा था, वही पुजारी और वही समाज का अगुआ । इस प्रकार के कामों के लिये अलग-अलग समितियों संस्थाओं आदि का इस अवस्था में विकास न हुआ था ।

#### (II) विभेदीकृत सामूहिक संस्थायें:

सामाजिक उद्विकास के क्रम में मैकाइवर के अनुसार दूसरी अवस्था विभेदीकृत सामूहिक संस्थाओं की है । कालान्तर में धीरे-धीरे समाजों का विकास होता है, जनसंख्या बढ़ती है, नई-नई समस्यायें उत्पन्न होती हैं, नई-नई आवश्यकतायें बढ़ती जाती हैं ।

रुचियों और प्रवृत्तियों के रूप बदलते हैं और उनमें विविधता आती है। अतः इन विभिन्न स्वार्थों, रुचियों आवश्यकताओं तथा प्रवृत्तियों को संतुष्ट करने के लिये कार्य का विभाजन किया जाता है और ये काम भिन्न-भिन्न संस्थाओं को सौंप दिये जाते हैं। प्रत्येक वर्ग की अपनी-अपनी संस्थायें विकसित होती हैं और उनके संचालन का भार विशेष व्यक्तियों को सौंपा जाता है।

इस प्रकार समाज में भिन्न-भिन्न कामों की विशेष प्रणालियाँ प्रकट होती हैं, विशेष विधि निषेध लागू होने लगते हैं। प्राकृतिक शक्तियों का नियन्त्रण करने और उनके गुप्त भेदों का पता लगाकर लाभ उतने के लिये नई-नई संस्थायें पैदा होती हैं।

इस प्रकार उदाहरण के लिये जादू-टोना करने वाले ओझे, जाति की आवश्यकताओं को पूरा करने के वाले कर्म-काण्ड मन्त्र-तन्त्र तथा अभिचार की विधियों को करने वाले व्यक्ति समाज में अपने विशेष वर्ग बना लेते हैं। इसी प्रकार परिवार विवाह, आर्थिक तथा राजनैतिक आदि समाज के विभिन्न कामों के लिये अलग-अलग संस्थायें बन जाती हैं।

(III) विभेदीकृत समितियाँ:

सामाजिक उद्विकास में तीसरी अवस्था को मैकाइवर ने विभेदीकृत समितियाँ कहा है। इस अवस्था में उपरोक्त संस्थायें क्रमशः समितियों का रूप धारण कर लेती हैं। इस प्रकार राज्य, आर्थिक संगठन, परिवार, स्कूल, चर्च आदि विभिन्न समितियाँ पैदा होती हैं।

। संस्थाओं की अवस्था से समितियों की अवस्था तक समाज के उद्विकास में बहुत समय लगता है ।

वास्तव में आदिम समाजों में संस्थाओं से समितियों के विकास की अवस्था बहुत कम आ पाती है क्योंकि उनमें इस विकास के लिये आवश्यक लचीलेपन का अभाव होता है और आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में विशेषीकरण कम होता है ।

उनमें सामूहिक प्रथाओं का अधिक मान होता है और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अधिकतर इन्हीं का जोर होता है । इसके विपरीत आधुनिक समाजों में ज्ञान की वृद्धि तथा श्रम-विभाजन के कारण समितियों के निर्माण के उपयुक्त परिस्थिति उत्पन्न हो गई है ।

अतः जीवन के भिन्न-भिन्न काम अलग-अलग समितियों को सौंप दिये गये है । उदाहरण के लिये प्राचीन काल में सन्तानोत्पत्ति, मनोरंजन, शिक्षा, आर्थिक उत्पादन आदि अनेक काम अकेले परिवार की संस्था करती थी । अब मनोरंजन, शिक्षा तथा आर्थिक उत्पादन आदि के काम परिवार से अन्य समितियों ने ले लिये है इसी प्रकार जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी यह उद्विकास देखा जा सकता है ।

उदाहरण के लिये दूसरी अवस्था में प्रायः धार्मिक और राजनैतिक संस्थायें एक दूसरे के साथ सम्बद्ध होती हैं । तीसरी अवस्था में राज्य धर्म निरपेक्ष हो जाता है और धार्मिक समितियाँ पृथक् हो जाती हैं । इस प्रकार सामाजिक उद्विकास की इस अवस्था में धार्मिक संस्थायें बन जाती हैं ।

समाज के उद्विकास की उपरोक्त व्याख्या को सभी समाजशास्त्री नहीं मानते । उदाहरण के लिये गिन्सबर्ग ने इसमें गम्भीर सन्देह प्रकट किया है कि उद्विकास समाज

को सरल से जटिल बनाने की क्रमिक गति है। कुछ समाज शास्त्रियों ने सामाजिक उद्विकास की जैवकीय उद्विकास के आधार पर व्याख्या की है।

ऑगबर्न ने सामाजिक उद्विकास के निम्नलिखित चार कारक बतलाये हैं:

(I) आविष्कार,

(II) संचय,

(III) प्रसार,

(IV) सामंजस्य।

वास्तव में सामाजिक उद्विकास की अवस्थाओं के विषय में जितने सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं उन सभी की कुछ न कुछ आलोचना की जा चुकी है। इस विषय में कोई सर्वसम्मत सिद्धान्त उपस्थित करना है भी कठिन क्योंकि सामाजिक उद्विकास की प्रक्रिया अत्यधिक जटिल है।

आदिम से सभ्य समाज तक विभिन्न अवस्थायें:

सभ्यता के विकास क्रम को सभी विद्वानों ने एक दृष्टिकोण से नहीं देखा है। अतः आदिम समाज से सभ्य समाज तक विकास में कौन सी विभिन्न अवस्थायें हैं इसके बारे

में सभी एक मत नहीं है । सभी लोगों ने संस्कृति के विकास के तीन स्तर माने हैं ।

ये तीन स्तर निम्नलिखित हैं:

(1) पाश्चिकता

(2) बर्बरता

(3) सभ्यता

प्रौद्योगिकी के विकास से सभ्यता का विकास समझाने वाले विचारक आदिम समाज से सभ्य समाज तक निम्नलिखित तीन अवस्थायें मानते हैं:

(A) प्रस्तर युग,

(B) कांस्य युग,

(C) लौह युग ।

आर्थिक जीवन के उद्विकास को सभ्यता का उद्विकास मानने वाले विद्वानों ने आदिम जीवन से वर्तमान सभ्यता तक विकास की अग्रलिखित चार अवस्थायें मानी हैं:

i. शिकारी अवस्था

ii. चरवाही अवस्था

iii. कृषि अवस्था

iv. औद्योगिक अवस्था

माक्स तथा इंगेल्स ने इन अवस्थाओं को वास्तविक ऐतिहासिक क्रम का सूचक माना है अर्थात् सभी मानव सभ्यतायें इसी निश्चित क्रम से इन अवस्थाओं से गुजरी हैं। परन्तु फ्रेडरिक रजल, एडवर्ड हान तथा एलेग्जेण्डर वॉन हगबोल्ट आदि विद्वानों ने इस मत का खण्डन किया है। फिर भी यह मत बहुत प्रसिद्ध है। अतः यहाँ पर इसी का वर्णन किया जायेगा।

i. शिकारी अवस्था:

मनुष्य की सभ्यता की पहली अवस्था शिकारी अवस्था है। इस अवस्था में लोग जंगलों में अथवा नदियों तथा समुद्रों के किनारे रहा करते थे और पशु-पक्षियों तथा मछलियों का शिकार करते थे। इन्हीं पशुओं की खालों से तथा पेड़ों की छालों से वे अपने वस्त्र बनाते थे।

गर्म देशों में वस्त्र लगभग नहीं के बराबर प्रयोग होते थे और अधिकतर लोग एक लंगोटी बांधते या नग्न रहते थे इस समय तक मनुष्य समूहों में गांव बनाकर नहीं रहते छ वे प्राकृतिक शक्तियों से डरते थे, और उनकी उपासना करने तथा जादू के जोर से उनको अपने पक्ष में करने की कोशिश करते थे ।

शिकार के हथियार पत्थर, लकड़ी तथा हड्डी आदि और बाद में लोहे के भी होने लगे थे । गर्म देशों में लोग पेड़ों पर या झोपड़ियों में रहते थे । ठण्डे देशों में गुफाओं का प्रयोग किया जाता था । व्यापार के रूप में कुछ वस्तुओं की अदला बदली मात्र होती थी । सामूहिक और स्थायी जीवन के अभाव में सामाजिक और राजनैतिक जीवन का विकास नहीं हुआ था ।

## ii. चरवाही अवस्था:

शिकार करने के साथ-साथ मानव ने कुछ जंगली पशुओं को पालना भी सीखा । इस प्रकार बकरियाँ, भेड़ें गाय भैंस, घोड़े रेनडियर, कुत्ते, आदि पाले जाने लगे । घास खाने वाले जानवरों को चारे की जरूरत रहती थी । अतः चरवाही अवस्था में मनुष्य अधिकतर घुमक्कड़ थे । वे अपने पशुओं के लिये चारे की तलाश में एक स्थान से दूसरे स्थान को घूमते रहते थे ।

जब एक स्थान पर घास आदि की कमी हो जाती थी तो वे वह स्थान छोड़कर आगे बढ़ जाते थे । इस अवस्था में फल और गोशत के साथ-साथ खाने पीने में दूध से बनी चीजों का भी प्रयोग होने लगा । जानवरों की खालों के तम्बू रहने के लिये प्रयोग किये जाने लगे । इस अवस्था में परिवार के परिवार चारे की तलाश में इधर-उधर घूमा करते थे ।

### iii. कृषि अवस्था:

खेती की अवस्था से मानव ने सभ्यता की सीडी में महत्वपूर्ण कदम आगे बढ़ाया क्योंकि अब वह स्थायी रूप से खेती के योग्य मैदानों में रहने लगा । स्थायी रूप से बहुत से लोगों के एक स्थान पर रहने से और प्राकृतिक आपत्तियों के विरुद्ध लड़ने में एक दूसरे के साथ भाग लेने से उनमें क्रमशः सामुदायिक भावना का विकास हुआ और धीरे-धीरे छोटे-छोटे गाँव बस गये ।

इन गाँवों में एक दूसरे से भी सम्पर्क आने लगा । गाँव में सामूहिक जीवन के विकास से राजनैतिक जीवन का विकास हुआ । सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं का विकास हुआ । स्थायी रूप से एक स्थान पर रहने और खेती करने से जीविकोपार्जन से कुछ अवकाश मिला और साहित्य, कला दर्शन और धर्म का विकास हुआ ।

इस प्रकार संसार के प्रसिद्ध उपजाऊ मैदानों में मानव की खेती की अवस्था में महान् सभ्यताओं का उदय हुआ । मिस्र, भारत तथा चीन की सभ्यताओं की किसी भी आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता से तुलना की जा सकती है ।

### iv. उद्योगिक अवस्था:

परन्तु उद्योग की अवस्था ने मानव सभ्यता के विकास में क्रांति ही कर दी । औद्योगिक क्रांति के प्रभाव से सामाजिक राजनैतिक, आर्थिक जीवन के सभी पक्षों में सभ्यता की तेजी से प्रगति हुई । बड़े-बड़े नगर बसने लगे और वे ही अब सभ्यता के केन्द्र हो गये विज्ञान की अभूतपूर्व प्रगति से मानव ने प्राकृतिक शक्तियों जल वाष्प विद्युत, अणुशक्ति आदि पर अधिकार करके धरती का रूप बदलना शुरू किया ।

वह पवन से भी तेज गति में हवा में उड़ने लगा । सागर की छाती पर हजारों मन बोझ लेकर जहाज इधर का माल उधर करने लगे यातायात और संदेशवहन के साधनों में अभूतपूर्व विकास हुआ । औद्योगीकरण से वर्गवाद बढ़ा । साम्यवाद और समाजवाद जैसी नवीन राजनैतिक विचारधारायें फैलने लगा । जनसाधारण के जीवन का सार ऊंचा उठा । सामाजिक और राजनैतिक ढाँचा और भी जटिल हो गया ।

आज मानव सभ्यता उद्योग की अवस्था में है । हमारा युग अणु युग अथवा औद्योगिक युग है । जीवन की गति तीव्र होती गई है जिसमें सभी दिशाओं में समान रूप से प्रगति नहीं हुई है । इससे सब कहीं सांस्कृतिक विलम्बना दिखाई पड़ने लगी है । भौतिकता बढ़ती जाती है ।

इसके साथ अभौतिक संस्कृति में इतनी प्रगति नहीं हुई है । इस असन्तुलन से मानव सभ्यता को जबर्दस्त खतरा है । यदि यह असन्तुलन दूर न हुआ तो शायद विशालकाय मैमथों और डाइनोसोरों के समान भविष्य में हमारा भी पता न लगे । परन्तु यदि यह संकट टल गया तो मानव सभ्यता इस धरती से ऊपर उठकर चांद सितारों तक पहुँचेगी ।